जनवरी १९९४ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

धम्म वाणी

चिरं तिट्ठतु सद्धम्मो, धम्मे होन्तु सगारवा।
सब्बेपि सत्ता, कालेन, सम्मादेवो पवस्सतु॥

– पत्थना आसीस गाथा.

सद्धर्म चिरस्थाई हो! सभी लोग धर्म के प्रति गौरवयुक्त हों! सम्यक् देव समय पर बरसे!

विपश्यना घर लौटी

उन्नीस जनवरी. परम पूज्य गुरुदेव ऊ बा खिन का महाप्रयाण दिवस।

आओ! इस पुण्य-तिथि पर विपश्यना विद्या के उस महान आचार्य की पावन स्मृति में भारत और ब्रह्मदेश की पृष्ठभूमि में भगवती विपश्यना विद्या के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालें।

शाक्य राजवंश

भारत और पड़ोसी ब्रह्मदेश का घनिष्ठ संबंध अनेक सदियों से बना हुआ था – राजनैतिक क्षेत्र में भी और व्यावसायिक क्षेत्र में भी। भगवान बुद्ध के पूर्व अनेक वर्षों पहले पांचाल देश में एक प्रतापी राजा हुआ, परंतु वह उच्च क्षत्रिय कुल का नहीं था। वह किसी ऊंचे कुल से विवाह-संबंध जोड़ने के लिए लालायित था। एतदर्थ उसने कोलिय-नरेश से उसकी राजकुमारी मांगी। कोलियों को इक्ष्वाकु कुलीन सूर्यवंशी क्षत्रिय होने का बहुत गर्व था। अतः कोलिय-नरेश ने पांचाल-नरेश की यह मांग ठुकरा दी। परिणामस्वरूप दोनों में युद्ध छिड़ गया। देवदह और कपिलवस्तु के शाक्यों ने कोलियों का साथ दिया। परंतु इन तीनों की संयुक्त शक्ति भी पांचाल की बलवती सेना का सामना न कर सकी। शाक्यों और कोलियों के राज्य बिखर गये। कपिलवस्तु के परास्त शाक्यों का एक दल महाराज अभिराज के नेतृत्व में मध्यदेश से चलकर उत्तर-पूर्वी असम और उसके आगे छिन पर्वत को लांघते हुए उत्तरी ब्रह्मदेश में इरावदी नदी की घाटी में पहुँचा। वहां संघर्ष-राष्ट्र के नाम से एक नए राज्य की स्थापना की। इस नए राज्य की राजधानी टगाऊं थी। यह राज्य कई पीढ़ियों तक चला। शाक्यमुनि भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा से इन प्रवासी शाक्यों का संपर्क हो जाना स्वाभाविक था। उसी समय विपश्यना साधना का उत्तरी ब्रह्मदेश में प्रवेश हुआ होगा। शायद इसी कारण छिन पर्वतों के घने जंगल विपश्यी साधकों के लिए तपोवन के रूप में सदा प्रसिद्ध रहे हैं। कहते हैं आज भी उन महावनों में यत्र-तत्र कोई साधक भिक्षु तपता हुआ मिल जाता है।

तपस्स-भल्लिक

उत्कल [उड़ीसा] को उन दिनों उक्कलक कहते थे। वहां के कुछ लोग इरावदी नदी के मुहाने पर जा बसे थे। अत्यंत रमणीय होने के कारण उसका नाम रमण्य देश रखा। जहां आज रंगून नगर है, वहां उन्होंने उक्कल देश की याद में उक्कल नाम का एक नगर बसाया। आज भी रंगून नगर के समीप उक्कलापा नामक एक उपनगर बसा हुआ है।

वहां के तपस्स और भल्लिक नामके दो व्यापारी व्यापार के सिलसिले में भारत आए और उरुवेल वन में से यात्रा करते हुए उन्होंने बोधिवृक्ष के नीचे भगवान बुद्ध को ध्यानस्थ बैठे देखा। भगवान को बुद्धत्व प्राप्त किए हुए सात सप्ताह बीत चुके थे। व्यापारियों ने अत्यंत श्रद्धापूर्वक अपने साथ लाए हुए भात और मधु से बने मोदक भगवान को अर्पित किये। यह सम्यक संबुद्ध का पहला भोजन था। इस घटना की स्मृति स्वरूप उन्होंने भगवान से कुछ भेंट चाही। भगवान का हाथ अनायास अपने सिर पर गया और सिर के आठ बाल उनके हाथ में आ गये। वे दोनों उन आठ बालों को लेकर खुशी-खुशी स्वदेश लौट चले। अपने लौटने की अग्रिम सूचना उन्होंने स्वदेश भिजवा दी।

महाराज उक्कलपति और उक्कल के नागरिकों ने उन के शधातुओं का सम्मानपूर्वक स्वागत किया। नगर के समीप डगोन पहाड़ी की चोटी पर श्वेडगोन नामक स्तूप बनाकर उसके गर्भ में ये केशधातु स्थापित कर दी गयीं ताकि उस देश की जनता भावी पीढ़ियों तक उनके पूजन-अर्चन का लाभ ले सके।

इस यात्रा में तपस्स और भल्लिक को पूजन के लिए भगवान की केशधातु मिली, सम्यक संबुद्ध को प्रथम भोजनदान देने का परम पुण्यमय सौभाग्य मिला, परंतु भगवान ने विपश्यना के रूप में जिस मुक्ति प्रदायक शुद्ध धर्म की खोज की थी, उससे वह वंचित ही रह गये। वह उन्हें अगली किसी यात्रा में मिला। इसका अभ्यास करके ही भल्लिक अरहंत अवस्था को प्राप्त हुए। इस प्रकार इरावदी नदी के मुहाने पर बसे रमण्य देश में विपश्यना का प्रथम प्रवेश हुआ।

अरहंत सीवली

ब्रह्मदेश के दक्षिण-पूर्वी भाग में, सित्तांग और साल्विन नदी का मुहाना और दक्षिण की तनासरिम पहाड़ियां तथा पूर्व में आज के थाईलैंड के पश्चिमी भाग तक फैला हुआ सारा प्रदेश उन दिनों सुवर्णभूमि के नाम से जाना जाता था। वहां मुख्यतः मोन-खमेर जाति के लोग बसे हुए थे। दक्षिण भारत के तेलंगाना प्रदेश के भी कुछ लोग वहां जा बसे थे, जो कि तलाईं [तैलंग] कहलाते थे। व्यापार के लिए वहां उत्तर भारत के लोगों का भी आवागमन था।

पंचवर्गीय भिक्षुओं के पश्चात यश सहित जिन पचपन श्रेष्ठिपुत्रों ने भगवान से धर्म सीख कर अरहंत अवस्था प्राप्त की, उनमें से एक थे भिक्षु सीवली। वह एक समृद्ध परिवार से भिक्षु हुए थे। यह परिवार देश और विदेश में बड़े पैमाने पर व्यापार करता था। व्यापार के सिलसिले में उनका एक छोटा भाई सीहराज स्वर्णभूमि जा बसा था। उसके जीवन में एक ऐसा सुयोग आया कि वह उस प्रदेश का शासक बन गया। सीहराज की छठी पीढ़ी में राजा उपदेव हुआ। उसने सुवर्णभूमि के लिए नई राजधानी स्थापित

की, जिसका नाम सुधम्मवती रखा गया, जिसे कि आजकल थटोन कहते हैं।

भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात भिक्षु सीवली साठ वर्षों तक जीवित रहे और धर्मसेवा करते रहे। अपने भाई सीहराज के आमंत्रण पर भिक्षु सीवली सुवर्णभूमि गये और वहां के लोगों को परियत्ति के रूप में बुद्ध-वचनों का और पटिपत्ति के रूप में विपश्यना का प्रशिक्षण दिया। तब से उस क्षेत्र में विपश्यना का प्रचार आरंभ हुआ। आज भी ब्रह्मदेश के लोग भिक्षु सीवली को अत्यंत आदर के साथ याद करते हैं। आज भी सुधम्मवती [थटोन] के समीप एक पहाड़ी पर ध्यानी भिक्षु विपश्यना साधना का अभ्यास करते हैं।

सोण और उत्तर

ईसा के ३२६ वर्ष पूर्व पाटलिपुत्र के अशोकाराम नामक विहार में राजा धम्मासोक [सम्राट अशोक] के संरक्षण में तीसरी धम्मसंगीति हुई। थेर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने इसकी अध्यक्षता की। इस संगीति के समापन पर थेर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने कुछ एक अरहंत भिक्षुओं को भारत और भारत के बाहर धर्मदूत के रूप में भेजा। ब्रह्मदेश में सोण और उत्तर नामक दो अरहंत भिक्षु भेजे गये, जो कि राजनगरी सुधम्मवती के बंदरगाह पर उतरे। भिक्षु सोण और उत्तर तीसरी संगायन में स्वीकृत बुद्धवाणी के साथ-साथ भगवान द्वारा सिखाई गयी विपश्यना विद्या अपने साथ ले गये। सुवर्णभूमि के लोगों ने इन दोनों का सहर्ष स्वागत किया। अरहंत सीवली की कृपा से वहां के लोग इस विद्या का आस्वादन कर चुके थे और अब सोण और उत्तर ने वहां इस विद्या को एक नया जीवन दिया। इस प्रदेश में सद्धर्म दृढ़ता से स्थापित होता चला गया। पीढ़ी-दर-पीढ़ी बहुत बड़ी संख्या में लोग त्रिपिटक में सुरक्षित बुद्धवाणी का अध्ययन करते रहे और विपश्यना विद्या का अभ्यास कर मुक्ति के पथ पर आगे बढ़ते रहे। ब्रह्मदेश में शुद्ध धर्म पुनः ले आने वाले अरहंत सोण और उत्तर को भी वहां के लोग बहुत आदर के साथ याद करते हैं।

भिक्षु सोण की शिष्य परंपरा की छठी पीढ़ी में संघनायक भिक्षु अनोमदस्सी हुए। उनके समय में उत्तर बर्मा के लोग सुधम्मवती आ-आकर भिक्षु सोण के साथ आयी धम्मवाणी तिपिटक और अट्ठकथाओं को सीख और उन्हें कंठस्थ कर उत्तर बर्मा में अपने-अपने जनपदों को ले जाते रहे। इस प्रकार सुधम्मवती नगरी शुद्ध धर्म का केन्द्र बन गयी और यहीं से भगवान की शिक्षा उत्तर की ओर जाती रही। कहा नहीं जा सकता कि इसके साथ-साथ विपश्यना विद्या भी गयी या नहीं?

समय बीतता गया और मध्य बर्मा में सुधम्मवती से गयी हुई यह शुद्ध विद्या दूषित होकर ह्रास को प्राप्त होती गयी। ईसा की दसवीं सदी तक बिगड़ती हुई अत्यंत घृणित अवस्था तक जा पहुँची। हो सकता है पूर्वोत्तर भारत के मार्ग से कोई वाममार्गी प्रभाव यहां जा पहुँचा हो। वहां के धर्मगुरु अपने आप को कहते तो थे – अरि याने आर्य, परंतु जीते थे बड़ा ही दुश्शील जीवन। गनीमत थीं कि दक्षिण की सुवर्णभूमि और उसकी राजधानी सुधम्मवती में धर्म अपने शुद्ध रूप में जीवित रहा, परियत्ति के क्षेत्र में भी और पटिपत्ति के क्षेत्र में भी।

स्थविर अरहं

ईसा की ११ वीं शताब्दी के आरंभ में महाराज सीहराज की ४८ वीं पीढ़ी में राजा मनुआ राजगद्दी पर बैठा। उन्हीं दिनों वहां भिक्षु धम्मदस्सी हुए, जिन्होंने विपश्यना साधना द्वारा अरहंत अवस्था प्राप्त कर ली थी। ब्रह्मदेश के इतिहास में वह स्थविर अरहं के नाम से प्रसिद्ध हुए। धर्म प्रचार के उद्देश्य से वह सुधम्मवती से उत्तर की ओर मध्य ब्रह्मदेश की यात्रा पर निकले। वहां पहुँच कर उन्होंने भगवान के शुद्ध धर्म का अत्यंत दूषित रूप देखा। उन दिनों मध्य ब्रह्मदेश की राजधानी पगान [अरिमर्दन पुरगाम] में म्यंमा जाति का प्रतापी राजा अनोरथ [अनुरुद्ध] ई. १०१७-१०५९] राज्य कर रहा था। स्थविर अरहं राजा अनोरथ से मिले। उनसे शुद्ध धर्म का उपदेश सुनकर राजा अत्यंत प्रभावित हुआ। उसकी प्रबल इच्छा हुई कि वह स्वयं भी और उसकी प्रजा भी शुद्ध धर्म का पालन करे। इसके लिए उसने भिक्षु अरहं का मार्गदर्शन चाहा। भिक्षु अरहं ने बताया कि ऐसे अभियान की सफलता के लिए शील, समाधि और प्रज्ञा में संपन्न आर्य अवस्था को पहुँचे हुए भिक्षुओं की आवश्यकता होगी, जो कि दक्षिण की सुवर्णभूमि में ही मिल सकेंगे। इसके अतिरिक्त जनता को शुद्ध धर्म समझाने के लिए तिपिटक ग्रंथों का होना आवश्यक है। उसने यह भी बताया कि श्रीलंका में ईसा के २९ वर्ष पूर्व हुई चौथी धर्मसंगीति में संपूर्ण तिपिटक और अट्ठकथाएं ताड़पत्रों पर लिखा लिए गए। श्रीलंका के राजा वट्टगामिनी ने उस संपूर्ण संग्रह की एक प्रति सुधम्मवती नरेश को भेंट स्वरूप भिजवायी थी। यहां उसकी प्रतिलिपियां लिखायी जाती रहीं। सुधम्मवती के वर्तमान राजा मनुआ के पास इन हस्तलिखित धर्मग्रन्थों के तीस संग्रह हैं। उनमें से एक भी यहां आ जाय तो पर्याप्त होगा। सुवर्णभूमि से जो भिक्षु यहां आयेंगे, वे इन धर्मग्रंथों के सहारे यहां सरलतापूर्वक धर्म प्रचार कर सकेंगे। महाराजा अनोरथ ने अपने राजदूत के जरिए राजा मनुआ को यह संदेश भेजा कि वह त्रिपिटक और अर्थकथाओं का एक संग्रह उसे भिजवा दे। राजा मनुआ ने अनोरथ को नितांत अयोग्य पात्र घोषित कर उसकी यह मांग ठुकरा दी। अनोरथ इससे बहुत कुपित हुआ और अपने प्रतापी राजकुमार चांसिता के नेतृत्व में एक विशाल सेना के साथ सुधम्मवती पर धावा बोल दिया। राजा मनुआ बुरी तरह परास्त हुआ। वह बंदी बना कर पगान ले आया गया। सुधम्मवती से तिपिटक और अट्ठकथाओं के तीसों संग्रह बड़े सम्मान के साथ हाथियों की पीठ पर रखकर पगान ले आए गए। कुछ साधक और विद्वान भिक्षु भी ससम्मान लाए गये। महाराज अनोरथ ने उदारतापूर्वक बंदी राजा मनुआ के निवास के लिए पगान में एक राजमहल बनवा दिया। स्थविर अरहं के नेतृत्व में मध्य ब्रह्मदेश में शुद्ध धर्म के प्रचार का कामनए सिरे से आरंभ हुआ। जनता ने उसे सहर्ष स्वीकार किया। यों धर्मग्रंथों के साथ-साथ विपश्यना भी ब्रह्मदेश के मध्य भाग में पहुँची।

कुछ समय पश्चात स्थविर अरहं ने पगान से आगे उत्तर की ओर यात्रा की। आज के मांडले नगर के सामने इरावदी नदी के पश्चिमी तट पर सगाइं नगर है। उसके समीप एक पहाड़ी है। स्थविर अरहं ने इसे ध्यान के लिए अत्यंत उपयुक्त पाया और

उसकी एक गुफा में विहार करने लगे और विपश्यना साधना में रत रहने लगे। उन्होंने यह घोषणा करवा दी कि जो भिक्षु धर्म के परियत्ति पक्ष में पारंगत हो जाय और विपश्यना साधना सीखना चाहे, वह उनके पास आ जाय। यों कुछ एक भिक्षु उनके पास विपश्यना सीखने आने लगे। स्थविर अरहं के परिनिर्वाण के पश्चात भी विपश्यना प्रशिक्षण की यह परंपरा वहां कायम रही और सगाइं की पहाड़ी विपश्यना के लिए उपयुक्त भूमि बन गयी। उस मध्य युग से अर्वाचीन काल तक सगाइं की पहाड़ी मुमुक्षु साधकों के तपने के लिए एक महत्वपूर्ण आकर्षण केंद्र बनी रही। परंतु यह शिक्षा केवल भिक्षुओं को ही दी जाती थी और वह भी बहुत थोड़ी संख्या में। यद्यपि संख्या हमेशा बहुत थोड़ी रही, परंतु ब्रह्मदेश के इन संत साधकों ने पीढ़ी दर पीढ़ी विपश्यना साधना को अपने परंपरागत शुद्ध रूप में जीवित रखा।

भिक्षु लेडी सयाडो

सन १८७१ में राजधानी मांडले में बरमी नरेश मिन डो मिं के संरक्षण में २४०० विद्वान भिक्षुओं की पांचवी धर्मसंगीति हुई, जिसमें एक होनहार युवा भिक्षु ने भाग लिया जो कि आगे चलकर लेडी सयाडो के नाम से विश्व-विश्रुत हुए। पालि का गंभीर अध्ययन कर लेने के बाद लेडी सयाडो विपश्यना साधना की ओर आकृष्ट हुए और सगाइं की पहाड़ियों में विहार करने वाले विपश्यना परंपरा के किसी आचार्य से यह विद्या सीख कर मनेवा नगर के समीप अपने जन्मस्थान, लेडी ग्राम में विहार करने लगे। वहां एक छोटी सी नदी के परले पार एक पहाड़ी गुफा है, जहां वे शाम को जाकर रात भर ध्यान किया करते थे। कुछ वर्षों के अभ्यास से विपश्यना में पारंगत होकर उन्होंने अपने विहार में भिक्षुओं को विपश्यना सिखानी शुरू कर दी। उन्हीं दिनों उनके मन में यह मंगल-भावना जागी कि अनेक सदियों से विपश्यना साधना केवल भिक्षुओं तक ही सीमित रही है। इसका लाभ सद्गृहस्थों को भी मिलना चाहिए। भगवान बुद्ध ने यह विद्या केवल भिक्षुओं को ही नहीं, बल्कि गृहस्थों को भी सिखाई थी। भिक्षुओं की अपेक्षा विपश्यी गृहस्थों की संख्या कहीं अधिक थी। भगवान के जीवनकाल में ही बहुत बड़ी संख्या में गृही स्रोतापन्न हुए थे, अनेक सकदागामी हुए, कुछ अनागामी हुए और तीन-चार तो गृहस्थ के बाने में ही अरहंत भी हुए थे। दीर्घदर्शी भिक्षु लेडी सयाडो ने देखा कि भगवान के प्रथम शासन के २५०० वर्ष पूरे होने वाले हैं। द्वितीय शासन आरंभ होने वाला है जो कि प्रथम शासन की भांति विपश्यना विद्या की शिक्षा से ही आरंभ होगा। सारे विश्व में भगवान द्वारा सिखाई गई विपश्यना के इस द्वितीय अभ्युदय में केवल भिक्षु ही नहीं, बल्कि गृहस्थ आचार्यों का भी बहुत बड़ा हाथ होगा। अतः उन्होंने गृहस्थों के लिए विपश्यना साधना का द्वार खोला, और सयातैजी जैसे समर्थ गृहस्थ आचार्य को प्रशिक्षित किया, जो कि उनके प्रमुख शिष्यों में से एक हुए।

सयातैजी

सयातैजी ने रंगून के समीप इरावदी नदी के पार डल्ल गांव में विपश्यना का केंद्र स्थापित किया और अपने जीवन काल में १००० से अधिक गृहस्थ और भिक्षुओं को विपश्यना सिखा कर यह सिद्ध कर दिया कि यदि पूर्व-पारमी-संपन्न हो तो एक गृहस्थ भी सफल विपश्यनाचार्य बन सकता है।

सयाजी ऊ बा खिन

सयाजी ऊ बा खिन यथेष्ठ पारमी संपन्न थे और सद्गृहस्थ सयातैजी के एक विशिष्ट सद्गृहस्थ विपश्यी शिष्य थे। २५०० वर्ष की गुरु-शिष्य परंपरा द्वारा विपश्यना आचार्यों की अविच्छिन्न शृंखला की आधुनिकतम कड़ी के रूप में वह एक जाज्वल्यमान नक्षत्र सिद्ध हुए। आधुनिक शिक्षा से संपन्न होने के कारण उस गृही संत ने विपश्यना का वैज्ञानिक पक्ष उजागर किया। भले संख्या में थोड़े ही रहे हों, परंतु उन्होंने ऐसे लोगों को विपश्यना सिखाई जो कि अलग-अलग परंपराओं से आए थे और भगवान बुद्ध की सही शिक्षा से सर्वथा अनभिज्ञ थे।

उन्हीं के प्रशिक्षण काल में रंगून में छठी संगीति आयोजित हुई। बुद्ध शासन के २५०० वर्ष का प्रथम दौर पूरा हुआ और दूसरा आरंभ हुआ। एक मान्यता रही है कि तीसरी संगीति के धर्मगुरु स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने जब भिक्षु सोण और उत्तर को सुवर्णभूमि भेजा तो यह भविष्यवाणी की कि इस अनमोल धर्मरत्न को तुम जिस देश में ले जा रहे हो, वही इसे शुद्ध रूप में चिर काल तक जीवित रखेगा। समय बीतते-बीतते भारत सहित अन्य सभी देशों से विपश्यना विलुप्त हो जायेगी। जब २५०० वर्ष बाद द्वितीय शासन आरंभ होगा तो ब्रह्मदेश से यह विद्या पुनः भारत लौटेगी और वहां प्रतिष्ठित होकर शनैः शनैः सारे विश्व में प्रतिष्ठापित होगी और अकूत लोक-कल्याण करेगी। इसी कारण गुरुदेव ऊ बा खिन बार-बार कहते थे कि अब समय आ गया है। विपश्यना का डंका बज चुका है। अब यह भारत ही नहीं, सारे विश्व में खूब फैलेगी। इस पुनीत कार्य का शुभारंभ करने के लिए वह स्वयं भारत आने के लिए बहुत उत्सुक थे, पर किन्हीं कारणों से ऐसा न हो सका। द्वितीय बुद्ध-शासन के आरंभ से लेकर चौदह वर्षों तक अपने जिस प्रिय शिष्य को उन्होंने बड़े प्यार से विपश्यना का प्रशिक्षण दिया था, उसे ब्रह्मदेश पर भारत का पुरातन ऋण चुकाने के लिए १९६९ में यहां भेजा। यों लगभग दो हजार वर्षों के अंतराल के बाद विपश्यना विद्या भारत लौटी और भारत के प्रबुद्ध लोगों ने इसे सहर्ष स्वीकार किया।

भारत की यह पुरातन विद्या अपनी जन्मभूमि भारत में और सारे विश्व में पुनः प्रतिष्ठित हो और जन-जन का मंगल करे, जन-जन का कल्याण करे। पूज्य गुरुदेव सयाजी ऊ बा खिन की धर्मकामना सफलीभूत हो!

गुरुदेव का धर्मपुत्र,
स. ना. गो.

वार्षिक अधिवेशन १९९४

वार्षिक धर्म-प्रसार सम्मेलन १६ से २१ जनवरी तक धम्मगिरि पर सोत्साह संपन्न हुआ। इसमें देश-विदेश के लगभग २०० पुरुष और १५० महिलाओं ने भाग लिया। इनमें विश्व भर के लगभग ८० सहायक आचार्य आचार्या भी थीं।

साथ ही विपश्यना विशोधन-परिषद का भी वार्षिक अधिवेशन संपन्न हुआ।

विगत वर्ष

वर्ष १९९३ धर्म-प्रसार के लिए बहुत ही अच्छा और संतोषजनक वर्ष रहा। भारत और नेपाल में कुल मिलाकर १८० शिविर लगे, जब कि १९९२ में १४५ लगे थे। इस प्रकार शिविरों की कुल संख्या में २० प्रतिशत की वृद्धि हुई। विदेशों में कुल मिलाकर १५० शिविर लगे, जबकि १९९२ में १२५ लगे थे। याने वहां भी १८ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

१९९३ में भारत और नेपाल में लगे शिविरों में १८,५०० साधकों ने भाग लिया, जबकि १९९२ में १४,००० साधकों को धर्मलाभ मिला था। इस प्रकार साधकों की संख्या में २५ प्रतिशत की वृद्धि हुई तो विदेशों में २० प्रतिशत की। वहां साधकों की कुल संख्या ७,००० रही, जबकि १९९२ में ५,५०० थी।

१९९२ की अपेक्षा १९९३ में केंद्र के बाहर लगे शिविरों की संख्या में दुगुनी वृद्धि हुई। सबसे बड़ा केंद्र-बाह्य शिविर भिलाई में संपन्न हुआ, जिसमें १७३ साधकों को धर्म-लाभ मिला। केरल, हरियाना और उत्तर-पूर्व के प्रदेशों को छोड़कर, जम्मू-कश्मीर से लेकर तमिलनाडु तक भारत के लगभग सभी प्रदेशों में एक या अनेक शिविरों का आयोजन हुआ। अधिकांश केंद्र-बाह्य शिविर महाराष्ट्र, गुजरात, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश में लगे। पुराने साधकों के एक दिवसीय शिविरों की संख्या में तीन गुना वृद्धि हुई।

बाल-शिविरों की संख्या १९९२ के ३५ की अपेक्षा १९९३ में ५० तक पहुँची, जिससे लगभग ५,००० से अधिक बच्चों ने आनापान का लाभ उठाया। इस पर पूज्य गुरुजी ने कहा, "विशेष रूप से बच्चों के जो शिविर हैं, उन्हें बढ़ावा देना बहुत आवश्यक है। इस देश की और सारे विश्व की अगली पीढ़ी एक ऐसी मानवता को तैयार करें जो सारे विश्व में सुख-शांति का वातावरण तैयार कर सके। इस छोटी सी उम्र में ही धर्म के बीज पड़ें, इस ओर प्रयत्नशील होना ही चाहिए।"

नए केंद्रों की स्थापना

१९९३ में विश्व के अनेक स्थानों पर नए केंद्रों की स्थापना हुई। इस प्रकार अब तक कुल मिलाकर २४ स्थाई केंद्र बन चुके हैं। ब्रह्मदेश में नए केंद्र 'धम्मज्योति' का उद्घाटन पूज्य गुरुजी के हाथों ७ अक्टूबर १९९३ को संपन्न हुआ और लगातार तीन शिविरों के बाद वहां हर महीने नियमित शिविर लगने लगे हैं जिनसे लगभग १०० साधक प्रति शिविर लाभान्वित हो रहे हैं।

भगवान बुद्ध की तपोभूमि बोधगया, सारनाथ एवं वैशाली में साधना-केंद्र के लिए भू-खंड खरीदे गए। जर्मनी में पुराने साधकों की सुविधा के लिए धर्म-गृह की स्थापना हुई। रूमानिया और रूस में पहली बार विपश्यना शिविरों का सफल आयोजन हुआ। मार्च १९९४ में दक्षिण अमेरिका के बेनेवेला में शिविर का आयोजन होने जा रहा है।

गत वर्ष ही धम्मगिरि एवं धम्मसिंधु पर आदर्श एकांत ध्यान-सुविधा के लिए भव्य चैत्यों के निर्माण का काम आरंभ हुआ, जिसमें से धम्मगिरि के चैत्य का काम लगभग पूरा होने जा रहा है।

जेलों में शिविर

बड़ोदा और अहमदाबाद की जेलों में लगे शिविरों के आश्चर्यजनक परिणाम से उत्साहित हो, विश्व की सबसे बड़ी जेल दिल्ली की तिहाड़ जेल में अधिकारियों एवं बंदियों के लिए दिसंबर-जनवरी में पांच शिविरों का आयोजन किया गया। इस प्रकार भारतवर्ष के कारागृह-इतिहास में अपूर्व क्रांतिकारी अध्याय का आरंभ हो चुका है। बंदियों एवं कारागार-अधिकारियों में आए अभूतपूर्व परिवर्तन को ध्यान में रखकर शीघ्र ही तिहाड़ जेल में एक हजार बंदियों का शिविर लगाने की मांग स्वीकार की जा चुकी है। इस प्रकार जेल को आश्रम में बदलने का प्राथमिक चरण आशातीत सफलता का द्योतक है।

इस पर पूज्य गुरुजी ने टिप्पणी की, "ये सारे जितने कारागृह है, वे सुधारगृह होने चाहिए, धर्म के केंद्र होने चाहिए। हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म नहीं, धर्म के केंद्र होने चाहिए। ताकि वहां जो गया, वह धर्म में पक कर बाहर निकला। अब वह समाज के लिए 'एसेट' हो गया, 'लायबिलिटी' नहीं रहा। इस तरह समाज में सुधार लाने के लिए आवश्यक है कि ऐसे शिविर लगें।"

विपश्यना शिविर में प्रशिक्षण के लिए अनेक शासकीय, अर्धशासकीय, अशासकीय, व्यावसायिक प्रतिष्ठानों, समाजसेवी संस्थाओं और सांप्रदायिक संगठनों ने न केवल रुचि दिखाई, बल्कि अपने कई सदस्यों को धर्मलाभ के लिए भेजा और धर्म-प्रसार के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

इस वर्ष पूज्य गुरुजी ने हर सम्मेलन में एक और नई बात जोड़ने के लिए कहा, "हर वर्ष जब इस प्रकार इकट्ठे हों तो यह भी हमारा एक कार्यक्रम हो कि हम मिल-जुल कर अपनी गलतियों को स्वीकार करें और अपनी ओर देखें कि भविष्य में ऐसी गल्ती दुबारा नहीं हो। इस दृढ़ निश्चय से काम करेंगे तो मंगल ही होगा। बहुत बड़ा मंगल होगा।"

कार्यशालाएं

१९९३ में धम्मगिरि व अन्य केंद्रों पर सहायक आचार्यों, कनिष्ठ स. आचार्यों एवं धर्मसेवकों के लिए कई कार्यशालाओं का लाभप्रद आयोजन किया गया। १२ से १५ जनवरी तक पालि-प्रशिक्षण के लिए एक कार्यशाला धम्मगिरि पर संपन्न हुई। इसमें पालि जानने वाले अथवा न जानने वाले दोनों प्रकार के साधकों ने लाभ लिया। पूज्य गुरुजी द्वारा सूत्र-पठन की विधि

समझाई गयी। अंत में पू. गुरुजी ने सभी शिक्षार्थियों को संबोधित किया, "अब तो मुझे स्पष्ट दीखता है कि पालि सीखने वालों की इतनी बड़ी बाढ़ आने वाली है जो सारे भारत में फैल जायेगी। अब पालि कोई मृत भाषा नहीं रहेगी। मुझे लगता है कि कुछ वर्ष होते-होते यह भारत की प्रमुख भाषाओं में से एक होगी और इसका एक मात्र कारण यही है कि इसमें शुद्ध धर्म समाया हुआ है।"

उपरोक्त सारे विवरण पर टिप्पणी करते हुए पू. गुरुजी ने कहा, "जो काम पिछले वर्ष हुआ, वह सचमुच प्रेरणादायक है। अच्छा ही है। लेकिन यह बात बहुत अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि यह सब एक विशाल मरुधर पर कुछ बूंदे गिरने जैसी बात हुई है। हमें प्रसन्नता इस बात की होनी चाहिए कि काम तो शुरू हुआ। पर साथ-साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि काम बहुत करना है। विपश्यना की जड़ें केवल भारत ही नहीं सारे विश्व में फैल जाएं और बड़ी सुदृढ़ हो जाएं। तो बड़े उत्साह के साथ अपने जीवन को धर्म की सेवा में समर्पित करना है, जिससे अपना भी कल्याण हो, औरों का भी कल्याण हो!

(भावी योजनाओं की चर्चा आगामी अंक में – सं.)

साधकों के उद्गार

म्यंमा(बर्मा) के पवित्र धाम की तीर्थ-यात्रा

(अनीस गोयल, मुंबई)

१९९३ के प्रारंभ में पूज्य गुरुजी से भेंट के समय मैंने उनके समक्ष म्यंमा के पवित्र तीर्थ धाम के दर्शन करने की कामना प्रगट की तो उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से मुझे उत्साहित करते हुए कहा–"जरूर जाओं। प्रत्येक विपश्यना साधक को म्यंमा जाकर उस भूमि को माथा टेकना चाहिए। उन्होंने बताया कि अक्टूबर, ९३ में वहां पर नव निर्मित विपश्यना केंद्र में तीन विपश्यना शिविरों का आयोजन भी है।"

पूज्य गुरुजी के आशीर्वाद, कई धर्म भाई-बहनों की सहायता एवं परिवार के सदस्यों के सहयोग से "धर्मज्योति" धाम के प्रथम शिविर में भाग लेने का शुभ अवसर मुझे प्राप्त हुआ। बर्मा की पुण्य भूमि की धर्म तरंगें बड़ी प्रखर हैं और मेरे अब तक के शिविरों में इस शिविर की साधना के अनुभव अत्यंत लाभकारी रहे। बर्मी भाई-बहनों के अपने दैनिक व्यवहार इतने प्रेरणादायक हैं कि कोई भी अपनी संपूर्ण प्रतिभा के साथ स्वयमेव काम में लगा रहता है। तीन रत्नों के प्रति उनकी आस्था अतीव गहन है।

प्रातः साढ़े चार बजे कोई साधक शयनागार में नहीं मिलता। सभी हॉल में ध्यानरत होते। हमें बर्मी भाई-बहनों की कार्य के प्रति गंभीरता एवं समय की पाबंदी से अनेक पाठ पढ़ने हैं। हम लोग लगभग २०० साधक थे और हॉल में ध्यान-बैठक के दौरान कोई शब्द सुनने को नहीं मिलता था, पूर्ण निःशब्दता। हर कोई अपने सह-ध्यानी का अत्यंत खयाल रखते थे।

धर्मज्योति ध्यान केंद्र के चारों ओर बौद्ध विहार हैं और प्रातः उठते ही बुद्धवाणी का पाठ एवं सोते समय भी धर्म-गायन सुनने का सुअवसर सहज ही प्राप्त होता रहता है। मैत्री के दिन आर्य मौन खुलने पर हम सभी मैत्री तरंगों से आप्लावित बात-चीत में लिप्त थे, किन्तु हमारे बर्मी मित्र साधना के प्रति पूर्ण निष्ठा बनाए रख कर १ से २.३० तक भी हॉल में ही ध्यान करते रहे और वही से अपने प्रिय जनों को मैत्री दी। यद्यपि सहायक आचार्य डॉ. जार्ज पोलैंड तो भी आना आवश्यक नहीं है, ने कहा भी कि २.३० से पहले हॉल में बर्मी भाई-बहनों ने व्यर्थ की गप-शप में समय खोना उचित नहीं समझा। धर्म-विधि के प्रति इतनी गहन लगन और श्रद्धा अन्यत्र मुश्किल से ही मिलेगी।

मुझे थाइलैण्ड एवं बर्मी भाई-बहनों के दल के साथ शिविर समापन के पश्चात रंगून नदी के उस पार सयातैजी (सयाजी ऊ बा खिन के गुरु) के केंद्र-अवलोकन के सुअवसर का सौभाग्य भी मिला। छोटे से गांव के इस केंद्र में वहां के सहृदय प्रेमी निवासियों ने, यह जानकर कि हम लोग सयातैजी के पड़-पोते साधक हैं तथा उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने आए हैं, हम लोगों का भावपूर्ण स्वागत किया। मैत्री और मुदिता उनमें से फूटती हुई प्रतीत हो रही थी। यह यात्रा चिर स्मरणीय रहेगी, विशेषकर इस अनुभूति से कि हमारे दादा गुरु सयाजी ऊ बा खिन ने वहां जाने के दलदल व कींचड़भरे रास्ते पर पैदल चल-चल करके ध्यानार्जन में कितनी कठिनाइयां झेली थीं। विपश्यना ध्यान-परम्परा के इन आचार्यों की इस उपकार भावना के प्रति मस्तक झुक जाता है।

अपने दादा गुरु सयाजी ऊ बा खिन के 'अन्तर्राष्ट्रीय ध्यान केंद्र' के दर्शन का सौभाग्य मुझे मिलना ही था। यहां मां वसुन्धरा पर स्थित स्वर्ग में पदार्पण करने जैसे सुखद भाव का अनुभव हुआ। केंद्र के प्रबन्धक जी ने कृपा कर के चैत्य के शून्यागारों में ध्यान करने की अनुमति प्रदान कर दी थी। यह मेरे जीवन की अनुपम अनुभूतियों में से एक प्रमुख घटना सिद्ध हुई। मैं, हमारे महान दादा गुरु सयाजी ऊ बा खिन, उनके 'अंतर्राष्ट्रीय ध्यान केंद्र' एवं वहां के सभी प्राणियों के प्रति श्रद्धापूर्वक नत मस्तक हुआ। मेरे विचार से प्रत्येक विपश्यी का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह म्यंमा की इस पुण्य भूमि के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अवश्य अर्पित करे, क्योंकि उन्होंने ही वास्तव में शुद्ध धर्म की ज्योति को प्रज्वलित रखा। बर्मी भाई-बहनों की वाणी तथा कर्मों में इसके प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं।

मैं पूज्य गुरुजी एवं माताजी का अत्यंत ऋणी हूं कि उन्होंने पुत्र से भी बढ़कर बर्मा में मेरी देख भाल रखी। प्रिय आदरणीय भाई बनवारी लाल जी ने अल्प समय में ही आवश्यक सुविधा पूर्ण "धर्म ज्योति" जैसा नया ध्यान केंद्र खड़ा कर दिया। इसके लिए वे बधाई के विशेष पात्र हैं। मैं अपने धर्म भाई-बहनों से विनम्र प्रार्थना करता हूं कि धर्म-ऋण चुकाने के लिए वे तन, मन, धन से बर्मा के इस नए केंद्र की प्रगति के लिए भरपूर प्रयास करें।

म्यंमा के लोग सदैव सुखी रहें, धर्म में पकते रहें एवं सदैव ऐसे ही धर्म-कार्यों में रत रहें। सारे प्राणी सुखी हों!